International Journal of Sanskrit Research 2017; 3(3): 393-396

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2017; 3(3): 393-396
© 2017 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 05-03-2017
Accepted: 06-04-2017

Dr. Atiya Danish
Post Doctoral Fellow
(UGC) Department Sanskrit.
Working Place MLNJNK Girls College Saharanpur, State Uttar Pradesh, India

Correspondence
Dr. Atiya Danish
Post Doctoral Fellow
(UGC) Department Sanskrit.
Working Place MLNJNK Girls College Saharanpur, State Uttar Pradesh, India

स्मृतियों में प्रतिपादित विधि व्यवस्था की वर्तमान काल में प्रासङ्गिकता

Dr. Atiya Danish

सारांश
वस्तुतः स्मृतियों में जिस विधि व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है वहाँ की संस्कृति में धर्म की प्रधानता है और वह समाज मूल्यों पर आधारित है। समाज की संरचना इस आधार इस आधार पर की गई है कि मूल्यों की सर्वोच्चता बनी रहे और उनमें कोई गिरावट न आये। भारतीय समाज की आवश्यकता, परिस्थिति और परिवेश का ध्यान रखते हुए नीति और धर्म पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था बनाई गई और उस व्यवस्था में मानव का जीवन हर प्रकार से सुरक्षित और नियन्त्रित हो इसकी व्यवस्था की गई है। धर्म जहाँ एक ओर आत्मा और परमात्मा के विषय में जानकारी देता है वहीं दूसरी ओर अनुशासित रहने का सन्देश भी देता है। मनुष्य और समाज अनुशासित रहे इसीलिए विधि व्यवस्था की गई। उल्लेखनीय है कि भारत विश्व का वह प्रथम देश है जहाँ उस सुदूर अतीत में भी स्मृतियों के रूप में लिखित विधान बनाया गया। उक्त विधि व्यवस्था की आधर स्थली जो स्मृतियां हैं वे एक सुदीर्घ कालावाधि तथा विस्तृत भौगोलिक परिधि की रचनाएं हैं। उक्त स्मृतियों में कहीं–कहीं मतवैविध्य का कारण स्मृतिकारों के सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति विभिन्नता और चिन्तन के साथ–साथ उनके समय, परिस्थिति और बदलता हुआ परिवेश भी उसके लिए उत्तरदायी है। यही कारण है कि प्रथम स्मृतिकार मनु से प्रारम्भ कर अर्वाचीन स्मृतिकार की विधि व्यवस्था विषय में मूल भावना होने पर भी यंत्र–तंत्र आवश्यक परिवर्तन तथा भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान काल में भी विश्व में जहाँ–जहाँ लिखित संविधान हैं वहाँ संविधान में संशोधन की व्यवस्था भी की गई है। यही कारण है कि संविधानों में समय–समय पर संशोधन भी होते रहते हैं।
स्मृतियों में प्रतिपादित विधि–व्यवस्था और वर्तमान कालीन संविधान में लगभग समानता हैं– समानता इस बात की है कि मौलिक अधिकार, व्यवहार, दण्ड, सम्पत्ति और जीवन से सम्बन्धित आवश्यक सम्बन्धों के निर्धारण के लिए कानून बनाने की व्यवस्था है। स्मृतियों में जिस प्रकार राजा को आवश्यकतानुसार (विधि उपलब्ध न होने पर) विधि बनाने का अधिकार था, उसी प्रकार वर्तमान काल में देश के न्यायालय को यह देखने का और निश्चित करने का अधिकार दिया गया है कि संसद जो कानून बनाती है, वह संविधान के अनुरूप है या नहीं और यदि नहीं है तो उसे गैरकानूनी घोषित कर देती है। कभी–कभी कानून उपलब्ध न होने की स्थिति में न्यायाधीश स्वयं कानून की व्याख्या पर नया कानून बना देते हैं Judge Made Law जिसे कहते हैं।
विधि की आवश्यकता हर समय रही है। प्राचीन काल से लेकर अब तक किसी न किसी रूप में कोई न कोई संस्था या व्यक्ति सार्वभौम सत्ता का अधिकारी रहा। भारत में सदा ही राजा को नियन्त्रित करने और तानाशाह बनने से रोकने के लिए सभा और समिति कार्य करती रही है। इसलिए भारत में कभी राजा निरंकुश नहीं हो सकता यद्यपि उसे इन्द्र, यम, कुबेर, अग्नि आदि देवों का अंश अर्थात् दैवी शक्ति सम्पन्न माना गया है। यूरोपीय देशों में राजा द्वारा में राजा द्वारा मुंह से बोला हुआ शब्द ही कानून था। उसके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं था इसी कारण यूरोपीय राजनैतिक विज्ञान ऐसे निरंकुश राजाओं के नामों से भरा पड़ा है। आधुनिक राजनैतिक विचारकों ने चिन्तन करने के पश्चात् कानून बनाने का अधिकार जन प्रतिनिधियों को सौंप दिया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद जब राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण होना प्ररम्भ हुआ तो लिखित कानून द्वारा शासन किया जाने लगा जबकि भारत में यह लिखित कानून मनुस्मृति के रूप में दो सहस्र वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।
स्पष्ट है कि स्मृति साहित्य में प्रतिपादित विधि–व्यवस्था पूर्णतया परिवर्तित काल में भी अनेक अंशों में प्रासङ्गिक है तो कुछ क्षेत्रों में मार्गदर्श भी। उदाहरणतया विधिवेता, विधि निर्धारक और कहीं–कहीं विधिकर्ता राजा केवल वंशपरम्परा के गौरव से ही उक्त अधिकारों को प्राप्त नहीं करता था, उसके लिए अपेक्षित योग्यता का होना आवश्यक था, उसे एक निर्धारित समय सारणी के अनुसार निश्चित पद्धति में जीवन–यापन करना होता था। उसका जीवन भोग का नहीं था, वास्तविक अर्थों में वह प्रजा के लिए था, प्रजा का था, सिंहासन चाहे वंश परम्परा से क्यों न मिला हो। वर्तमान काल में विधिवेत्ता, विधिकर्ता अधिकारियों के सन्दर्भ में भी ऐसा ही अनुशासन तथा नियमावली सर्वथा स्वागतयोग्य है।

कूट शब्दः स्मृतियों, प्रतिपादित विधि व्यवस्था, प्रासङ्गिकता

प्रस्तावना
अत्याधिक व्यापक तथा विशाल वाङ्मय में स्मृतियों का उल्लेखनीय स्थान है। हिन्दू जीवन पद्धति के नियामक, उसे संचालक स्मृतियाँ ही है।

अतः स्मृतियों को धर्मशास्त्र अथवा आचार संहिता के अभिधान से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः विज्ञान और तकनीक की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत, विश्व के अग्रगामी देशों के साथ प्रतिस्पर्धा में प्रथम पंक्ति में खड़े होने को उद्यत, आध्यात्मिकता का शंखनाद करने के लिए स्मृतिसाहित्य–विश्व बाज़ार के प्रमुख उपभोक्त बने, वर्तमान काल के भारत के लिए स्मृतिसाहित्य–विशेषकर उसमें प्रतिपादित विधि व्यवस्था आज भी उपादेय है।

'विधि' शब्द से सामान्यता अर्थ लिया जाता है कार्य करने की रीति। धार्मिक विधान के लिए भी विधि शब्द का प्रयोग किया जाता है। कोश के अनुसार वि उपसर्गपूर्वक धा धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से विधि शब्द निष्पन्न होता है जिसके अन्य अर्थों के साथ एक अर्थ हैं 'विश्व को धारण करना'। मोनियर विलियम्स कानून को विधि कहते हैं। हरिकृष्ण रावत विधि अथवा कानून को इस भांति परिभाषित करते हैं, ''किसी भी भू क्षेत्र में राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन बनाये रखने के लिए बल प्रोग की अनुमति देने वाले सिद्धान्त कानून कहलाते हैं।'' (समाजशास्त्र विश्वकोष, पृ0 199) प्रस्तुत सन्दर्भ में विधि शब्द का प्रयोग कानून के लिए किया जा रहा है।

समाजिक प्राणी को समाज के अनुरूप बनाने, उसे सभ्य, शिष्ट एवं अनुशासित रखने के लिए धर्मग्रन्थ, नीतिशास्त्र, सामाजिक तथा पारिवारिक परिवेश, शिक्षा, संस्कार आदि उपयोगी होते हैं किन्तु मानवप्रकृति में काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या के द्वारा अनाचार और अत्याचार करने की प्रेरणा स्वतः स्फूर्त होती है। उसे रोका जा सके, संयत किया जा सके, बर्बरता और अत्याचार से व्यक्ति और समाज की रक्षा की जा सके इसलिए विधि की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही व्यक्ति के सम्बन्धों में सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों में जघन्य अपराधों को रोकने के लिए, नियम बनाने, दण्ड का प्राविधान करने, दण्ड देने का अधिकारी कौन हो इसका निर्णय करने आदि सबकी व्यवस्था ही विधि–व्यवस्था है। इसको इस ढंग से भी कहा जा सकता है कि विधि–व्यवस्था के तीन प्रमुख चरण हैं – (क) अधिकारी द्वारा निर्धारित तथा पालनीय विधि (कानून)। (ख) विधि का यथायथ पालन ने करने पर न्याय की मांग रखना। (ग) क्षतिग्रस्त पक्ष के लिए दण्ड विधान।

व्यवहार – आवश्यकता

विधि अथवा व्यवहार की आवश्यकता समाज के प्रत्येक व्यक्ति को होती है। पंच ज्ञानेन्द्रियों, मन, बुद्धि, विवेक से सम्पन्न मानव को व्यवहार की आवश्यकता क्यों हुई। इस सम्बन्ध में वेदव्यास का मत है कि 'अतिप्राचीन काल में स्वर्णयुग था परन्तु कालान्तर में मानव दुराचारी हो गए। सर्वत्र त्राहि–त्राहि मच गई, धर्म की अवनति होने गली। ऐसी स्थिति में व्यवस्था स्थापित करने के लिए व्यवहार की आवश्यकता हुई।''[1] स्मृतिकार नारद ने धर्म का हास होने पर ही व्यवहार का जन्म बताया है। तदनुसार मनु ने जिस समय राज्यभार ग्रहण किया उस समय मनुष्य धार्मिक एवं सत्यवादी थे, व्यवहार की आवश्यकता नहीं थी परन्तु जब मनुष्यों में धर्म का हास होने लगा तब व्यवहार की आवश्यकता हुई और राजा विवादों को दूर करने वाला दण्डधर घोषित किया गया।[2] धर्म का ह्रास होने का कारण स्वयं मनु की दृष्टि में काम, क्रोध आदि हैं। तभी वे कहते हैं, 'सब लोग दण्ड से जीते हैं। स्वभाव से ही शुद्ध मनुष्य दुर्लभ है। दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार भोगने के लिए समर्थ होता है।[3] अराजकता से विवाद का जन्म स्वाभाविक है। विवाद कलह को जन्म देता है। कलह का दमन भी आवश्यक है जिसके लिए विधि व्यवस्था की आवश्यकता होती है। शशि कश्यप का मन्तव्य है कि जब तक व्यक्ति स्व–स्व अधिकारों का ही प्रयोग करते हैं तब तक अधिकार हनन न होने के कारण कलह नहीं उपजता है। कलह ने उपजने के कारण व्यवहार की आवश्यकता नहीं होती है लेकिन इसके विपरीत राग द्वेषादि से अभिभूत होने पर व्यक्ति कलहासक्त होकर न्याय की पुकार करता है। परिणामस्वरूप व्यवहार का जन्म हुआ।[4]

व्यवहार अर्थ

व्यवहार शब्द वि और अव उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु से घञ् प्रत्यय लगाहर बना है जिसका अर्थ है न्यायप्रशासन आदि।[5] सामान्यतः व्यवहार मुकदद्मा – लेन देन आदि के लिए प्रयोग किया जाता है। धर्मसूत्रों में व्यवहार शब्द को लेन–देन में प्रविष्ट होने से सम्बन्धित कानूनी सामर्थ्य के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[6]

व्यवहार पद संख्या

विषयों के अट्ठारह भेद किए गए हैं जिनमें विवादों के भेदों तथा उपभेदों को भी सम्मिलित किया गया है। मनु द्वारा स्वीकृत अट्ठारह व्यवहार पद हैं – ऋण लेना, धरोहर रखना, किसी वस्तु या भूमि आदि का स्वामी न होने पर उसे बेच देना, अनेक व्यक्तियों का मिलकर संयुक्त रूप से कार्य करना, दान आदि में दी गई वस्तु को लोभ, क्रोध अथवा उपात्रता के कारण वापस ले लेना, नौकरों को वेतन अथवा मज़दूरों को मज़दूरी न देना, पूर्वनिर्णीत व्यवस्था को नहीं मानना, क्रय–विक्रय में विवाद उपस्थित होना, स्वामी तथा पालक में परस्पर विवाद होना, सीमा के विषय में विवाद होना, दण्डपारूष्य, वाक्यपारुष्य, चोरी करना, अति साहस करना, स्त्री का परपुरुष के साथ सम्भोग करना, स्त्री–पुरूष का धर्म, पैतृक धन सम्पत्ति अथवा भूमि आदि का विभाजन, जुआ खेलना, पशु–पक्षी को लड़ाना। विभिन्न स्मृतिकारों ने उक्त व्यवहार पदों को विभिन्न रूपों में परिगणित किया गया है। उन सभी का विशद विवरण प्रस्तुत है।

विधि का प्रारम्भिक कार्य विवादों का निपटारा करना है किन्तु उसके लिए आवश्यकता होने पर न्यायकर्ता अपराधी को दण्डित भी करता है। दण्ड प्रतिशोध काल नहीं अपितु अपराधी के परिशोधन का आधार है। परिशोधन अपराध से विमुख करता है। इसी अपराध वृत्ति को रोकने के लिए और निरपराधी की रक्षा के लिए दण्डव्यवस्था की आवश्यकता होती है। यही न्यायव्यवस्था विधि है। विधि में 'व्यवहार' तथा दण्ड विधान दोनों समाविष्ट होते हैं। विवाद के उपस्थित होने पर अपराधी को न्यायालय के समक्ष उपस्थित करना तथा अपराधी को यथोचित दण्डित करना सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इस दण्डव्यवस्था को समीप कोई छोटा, बड़ा, ऊँचा–नीचा नहीं होता है। इसी कारण मनु का कथन है, 'माता–पिता, आचार्य, सुहृद, भार्या, पुत्र, पुरोहित–कोई भी यदि अपने धर्म से च्युत होता है तो वह राजा के लिए दण्डनीय होता है। सामान्य जन जिस अपराध के लिए एक कार्षापण मात्र से दण्डित किया जाता है, राजा द्वारा वही अपराध किये जाने पर उसे सहस्त्र दण्ड दिया जाना ही शास्त्रीय विधान है।' (मनु स्मृति, 8/335)

पशु हत्या और दण्ड विधान

मनुष्य के समान पशु भी पीड़ा एवं कष्ट का अनुभव करते हैं। इसीलिए तो स्मृतिकारों ने पशुहत्या को अपराध की सूची में रखा है और उसके लिए दण्ड का विधान किया है। मनु ने पशुओं के मूल्य के आधार पर दण्डव्यवस्था निर्धारित की है, यथा– छोटे पशुओं की हिंसा पर दो सौ पण दण्ड, मृग तथा पक्षियों की हिंसा करने पर पचास पण दण्ड, गधा, भेड़ और बकरी की हिंसा पर पांच पासे का दण्ड एवं कुत्ता और शूकर को मारने पर एक मासा चांदी का दण्ड देना होता है।

स्तेय

स्तेय का तात्पर्य है चोरी। मनु स्तेय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं अन्वय या कुल का ही व्यक्ति जब बलपूर्वक कार्य करता है अर्थात वस्तु का अपहरण आदि करता है तो वह साहस कहलाता है जबकि असम्बद्ध व्यक्ति जब अन्य की वस्तु का अपहरण करके उपभोग करता है तो वह स्तेय है।[7]

स्त्री संग्रहण

धर्मानुमोदित काम जहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय में परिगणित हुआ है वहीं अनैतिक काम सम्बन्ध को स्मृतिकारों ने न केवल हतोत्साहित किया है अपितु उसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी दी है। परस्त्री के साथ ऐसे सम्बन्ध को स्त्रीसंग्रहण के नाम से अभिहित किया गया है। स्त्रीसंग्रहण नैतिक और सामाजिक पतन का मूल है अतः दण्डनीय अपराध है। अस्तु स्त्रीसंग्रहण के विषय में विवेचन करने से पूर्व उसका अर्थ तथा परिचय जानना अपेक्षित है। धर्मसूत्रकार गौतम और आपस्तम्ब के अनुसार 'नग्न स्त्री को देखना, नारी की ओर देखकर हंसना, स्त्री का मुख चूमना, स्त्री की प्राप्त की कामना करना, बिना कारण उसे स्पर्श करना स्त्री संग्रहण है।[8] मनु ने इसे और अधिक विशद करते हुए कहा है, 'परनारी की सेवा, परिचर्या, क्रीड़ा, भूषणों और वस्त्रों का स्पर्श, उसके साथ शय्या आदि पर बैठना संग्रहण कहा जाता है।[9] मिताक्षरा का कथन है कि सम्भोग के लिए किसी पुरुष और स्त्री का एक साथ होना संग्रहण कहलाता है।[10]

स्मृतिकाल में विधि–व्यवस्था को लागू करने तथा नियम का उल्लंघन करने वाले को दण्डित करने वाला राजा था। राजा का कर्तव्य था प्रजा को उचित न्याय देना, भय से दूर रखना तथा अपराधी को दण्ड देना। व्यवस्थापक होने के कारण राजा का अत्यधिक महत्व है। निरूक्त के अनुसार यह राजन शब्द राज् धात से बना है, जिसका अर्थ है चमकना (निरुक्त, 2/3)। राजा शब्द को रंज धातु से निष्पन्न भी माना गया है जिसका अर्थ है प्रसन्न करना (वाचस्पत्यम्, षष्ठ भाग)

चाहे जीवन व्यक्तिगत हो, सामाजिक हो या राष्ट्रीय, उसमे विधि की आवश्यकता सदैव रहती है। विधि अथवा कानून को लागू करने तथा लोगों के द्वारा उसके पालन को सुनिश्चित करने के लिए एक संगठन शक्ति ही राजा था जिसका मनु आदि ने दैवीय शक्ति का अवस्थान मान लिया था। कुल परम्परा से आए हुए व्यक्ति में राजा बनने के लिए कुछ आवश्यक गुणों यथा उसका पवित्र, सत्यवादी, शास्त्रानुरूप कार्यकता, कठोरदण्डदाता, मित्र के प्रति सदय, ब्राह्मणों के प्रति दयालु, वर्णाश्रम, का रक्षक, द्विज, वेदज्ञ का सेवक, संयमी, निर्लोभी, व्यसनों से मुक्त, अर्थदोष से मुक्त होना आदि को परम आवश्यक माना गया है।

राजा के कर्तव्यों में पापियों का विनाश, अपराधियों को दण्ड देना, प्रजा को आह्लादित करना, प्रजा का समभाव से पालन करना, आलस्यहीन होकर अपने राज्य की रक्षा करना आदि है। इसमें प्रजा की रक्षा करना उसका प्रधान एवं पमुख कर्तव्य है।

राजा का अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए अधिकारों कीी आवश्यकता होती है। दण्ड देना उसका अधिकार है। विधि व्यवस्था को न मानने वालों के लिए दण्ड होता है। स्मृतिकारों ने विधि व्यवस्था के सन्दर्भ में व्यवहार और व्यवहार पद का ही प्रयोग किया है। न्याय के अधिकारी से पीड़ा पहुँचाने वाले के विषय में निवेदन करना व्यवहार है। विवादास्पद उक्त विषय अट्ठारह प्रकार के विवादों से उत्पन्न होते हैं यथा ऋण लेना, धरोहर रखना, स्वामित्व के बिना भूमि बेचना, दान दी हुई वस्तु को लौटा लेना, वेतनभोगी को वेतन न देना, विवाद होना, जुआ खेलना आदि। इन सब विवादों में हिंसामूलक व्यवहार पद हिंसा के कारण होने वाले विवाद है।

वस्तुतः स्मृतियों में जिस विधि व्यवस्था का प्रतिपादन किया गयाा है वहाँ की संस्कृति में धर्म की प्रधानता है और वह समाज मूल्यों पर आधारित है। समाज की संरचना इस आधार पर की गई है कि मूल्यों की सर्वोच्चता बनी रहे और उनमें कोई गिरावट न आये। भारतीय समाज की आवश्यकता, परिस्थिति और परिवेश का ध्यान रखते हुए नीति और धर्म पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था बनाई गई और उस व्यवस्था में मानव का जीवन हर प्रकार से सुरक्षित और नियन्त्रित हो इसकी व्यवस्था की गई है। धर्म जहाँ एक ओर आत्मा और परमात्मा के विषय में जानकारी देता है वहीं दूसरी ओर अनुशासित रहने का सन्देश भी देता है। मनुष्य और समाज अनुशासित रहे इसीलिए विधि व्यवस्था की गई। उल्लेखनीय है कि भारत विश्व का वह प्रथम देश है जहाँ उस सुदूर अतीत में भी स्मृतियों के रूप में लिखित विधान बनाया गया। उक्त विधि व्यवस्था की आधार स्थली जो स्मृतियाँ हैं वे एक सुदीर्घ कालावधि तथा विस्तृत भौगोलिक परिधि की रचनाएं है। उक्त स्मृतियों में कहीं–कहीं मतवैविध्य का कारण स्मृतिकारों के सामाजिक दृष्टिकोण के प्रति विभिन्नता और चिन्तन के साथ–साथ उनके समय, परिस्थिति और बदलता हुआ परिवेश भी उसके लिए उत्तरदायी है। यही कारण है कि प्रथम स्मृतिकार मनु से प्रारम्भ कर अर्वाचीन स्मृतिकार की विधि व्यवस्था विषयक मूल भावना एक होने पर भी यत्र–तत्र आवश्यक परिवर्तन तथा भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान काल में भी विश्व में जहाँ–जहाँ लिखित संविधान हैं वहाँ संविधान में संशोधन की व्यवस्था भी की गई है। यही कारण है कि संविधानों में समय–समय पर संशोधन भी होते रहते हैं।

स्मृतियों में प्रतिपादित विधि–व्यवस्था और वर्तमान कालीन संविधान में लगभग समानता है– समानता इस बात की है कि मौलिक अधिकार, व्यवहार, दण्ड, सम्पत्ति और जीवन से सम्बन्धित आवश्यक सम्बन्धों के निर्धारण के लिए कानून बनाने की व्यवस्था है। स्मृतियों में जिस प्रकार राजा को आवश्यकतानुसार (विधि उपलब्ध न होने पर) विधि बनाने का अधिकार था, उसी प्रकार वर्तमान काल में देशा के न्यायालय को यह देखने का और निश्चित करने का अधिकार दिया गया है कि संसद जो कानून बनाती है, वह संविधान के अनुरूप है या नहीं और यदि नहीं है तो उसे गैर कानूनी घोषित कर देती है। कभी–कभी कानून उपलब्ध न होने की स्थिति में न्यायाधीश स्वयं कानून की व्याख्या कर नया कानून बना देते हैं जिसे Judge made law कहते हैं।

क्रियापद

व्यवहार का महत्वपूर्ण पाद क्रियापद है। इसके अन्तर्गत वादी और प्रतिवादी अपने पक्ष के प्रमाण हेतु साक्षियों को प्रस्तुत करते हैं। वादी–प्रतिवादी की सत्यता का निश्चय ग्रमाणों के आधार पर होता है। प्रमाण तीन प्रकार के हैं– लिखित, भुक्ति और साक्षी। इन तीनों प्रमाणों से न्यायकार्य न होने पर दिव्य प्रमाणों का आश्रय लिया जाता है।[11]

लिखित प्रमाण

लिखित प्रमाण दो प्रकार का होता है– स्वयं ऋणी तथा ऋणदाता द्वारा अपने हाथ से लिखित लेख और किसी लेखक द्वारा लिखित लेख।[12] अपने हाथों से लिखित लेख में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। किसी लेखक द्वारा लिखित लेख में साक्षी का होना आवश्यक है। याज्ञवल्क्य के अनुसार 'स्वहस्त लिखित लेख की प्रमाणिकता छल या बल से रहित होती है।[13] विष्णु ने लेख तीन प्रकार के बताए हैं– राजा द्वारा प्रमाणित तथा अप्रमाणित। राजा द्वारा प्रमाणित से आशय है कि राजा की आज्ञा से राजा की आज्ञा से लिपिक द्वारा लिखा गया और मुख्य न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षर किया हुआ। अप्रमाणित लेख वह है जो पक्षकार द्वारा स्वयं लिखा हुआ तो परन्तु किसी साक्षी के हस्ताक्षर न हों।[14]

नारद के अनुसार 'मद्यपान करने वाले अपराधी, स्त्री, बालक और बलात्कारी द्वारा लिखा हुआ लेख प्रामाणिक नहीं माना जाता है। लेख छल, लोभ तथा बिना बल के ही लिखा जाना चाहिए। यदि व्यक्ति ने स्वयं लेख लिखा हो तो साक्षियों के हस्ताक्षर कराए बिना भी प्रामाणिक होता है।[15] लेख के पूर्ण हो जाने पर साक्षी तथा ऋणदाता लेख पर अपने हस्ताक्षर करते हैं। हस्ताक्षर के साथ उसमें वंश, गोत्र, नाम, कार्य किए जाने की तिथि, मास, वर्ष आदि का उल्लेख किया जाता है।[16]

साक्षी

क्रियापद के प्रमाण में साक्षी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। साक्षी वह है जो साक्षात् देखता हो। श्वेताश्वतरोपनिषद् में साक्षी शब्द अखिल विश्व के एकमात्र द्रष्टा के लिए आया है।[17] पाणिनी ने साक्षी का अर्थ लिया है जिसने साक्षात् देखा हो।[18] प्राचीनकाल से ही सुनने वालों की अपेक्षा देखने वालों के प्रमाण अधिक विश्वसनीय माना जाता है। इसलिए यदि दो व्यक्ति किसी बात के सत्य–असत्य पर विवाद करते हैं तो देखने वाले की बात पर ही अधिक विश्वास किया जाता है। नारद मानते हैं कि जब दो व्यक्ति विवाद कर रहे हों या जब सन्देह या कोई विरोध उत्पन्न हो रहा हो तब सत्य का उद्घाटन साक्षियों द्वारा सम्भव है।[19]

भुक्ति

भुक्ति भी प्रमाणों के अन्तर्गत आता है। साक्षी से अधिक प्रामाणिक भुक्तियों को माना जाता है। इस प्रकार लेख साक्ष्य से भी ऊपर है। सागम भुक्ति लेखन, दिव्य साक्ष्य सभी से ऊपर होती है।[20] अतः साक्ष्य, लेख और भुक्ति तीनों एक दूसरे पर आश्रित है। बिना आगम के भक्ति सिद्ध करने वाला चोर के समान दण्डित होता है।[21]

दिव्य प्रमाण

विधि व्यवस्था में न्याय करने के लिए लिखित, भुक्ति और साक्षी के प्रामण के असफल हो जाने पर दिव्य प्रमाण का आश्रय लिया जाता है। याज्ञवल्क्य ने सत्य की खोज का अन्तिम साधन दिव्य प्रमाण को माना है।[22]

दिव्य के प्रकार

दिव्यों की संख्या के विषय में स्मृतिकारों में मतभिन्नता मिलती है। मनु ने दिव्य प्रमाण दो प्रकार के बताए हैं– हाथ से अग्नि उठाना तथा जल में कूदना।[23] याज्ञवल्क्य[24] और नारद[25] के मत में पांच प्रकार के दिव्य प्रमाण होते हैं – अग्नि, तुला, विष, जल और कोश।

दण्ड

हर देश की अपनी शासन व्यवस्था होती है उस व्यवस्था को व्यवस्थित करने वाले शासक को प्राचीनकाल में राजा कहा जाता था। राजा का होना आवश्यक है ताकि प्रजा उद्दण्ड न बने, अपराध में वृद्धि न हो, असत्यभाषण, चोरी, बेईमानी आदि देश को नष्ट न कर दें, व्यक्ति शान्तिपूर्ण जीवन जी सके। ऐसा तभी सम्भव है जब अपराध न हों अपराध रोकने के लिए दण्ड देना पड़ता है। दण्ड व्यक्ति को अपराध के बदले दी गई यातना होता है। 'जिस व्यक्ति द्वारा अपराध किया जाना सिद्ध हो गया हो उसे अधिकृत रूप से पीड़ देना ही दण्ड है।''[26]

दण्ड के प्रकार

मनु[27], याज्ञवल्क्य[28], वृद्धहारीत[29] के अनुसार दण्ड चार प्रकार के होते हैं वाग्दण्ड (डांटना, फटकारना), धिग्दण्ड (धिक्कारना, बुरा भला कहना), अर्थदण्ड (आर्थिक दण्ड) तथा वधदण्ड।

उपसंहारः

स्पष्ट है कि स्मृकित साहित्य में प्रतिपादित विधि–व्यवस्था पूर्णतया वर्तमान काल में भी अनेक अंशों में प्रासंगिक है तो कुछ क्षेत्रों में मार्गदर्शक भी। उदाहरणतया विधिवेत्ता, विधि निर्धारक और कहीं–कहीं विधिकर्ता राजा केवल वंशपरम्परा के गौरव से ही उक्त अधिकारों को प्राप्त नहीं करता था, उसके लिए अपेक्षित योग्यता का होना आवश्यक था, उसे एक निर्धारित समय सारणी के अनुसार निश्चित पद्धति में जीवन–यापन करना होता था। उसका जीवन भोग का नहीं था, वास्तविक अर्थों में वह प्रजा के लिए था, प्रजा का था, सिंहासन चाहे वंश परम्परा से क्यों न मिला हो। वर्तमान काल में विधिवेत्ता, विधि निर्धारक तथा विधिकर्ता अधिकारियों के संदर्भ में भी ऐसा ही अनुशासन तथा नियमावली सर्वथा स्वागतयोग्य है।

सन्दर्भ

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 231/23–24
2. मनुः प्रजापतिर्यस्मिन् कालेज राज्यमबूभुजत्।
   धर्मैकतानाः परुषास्तदासन् सत्यवादिनः।
   नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रकल्पितः।
   द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः कतः।। नारद व्यवहार दर्शनविधि, 1–2
3. सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
   दण्डस्य हि भयात् सर्व जगद्भगाय कल्पते।। मनुस्मृति, 7/22
4. डॉ0 शशि कश्यप, धर्मशास्त्रों में न्यायव्यवस्था का स्वरूप, पृ0 72–73
5. वामन आप्टे, संस्कृत–हिन्दी कोश, पृ0 937
6. गौतम धर्मसूत्र, 2/1/48, वसिष्ठ धर्मसूत्र, 16/7–9
7. स्यात्साहसं त्यन्यवत्प्रसंभ कर्म यत्कृतम्।
   निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृतवाऽपव्ययते च यत्।। वही, 8/332
8. गौतम धर्मसूत्र, 3/3/1, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/12/8/10
9. उपचारक्रिया केलिः स्पर्शौ भूषणवाससाम्।
   सह खट्वासनं चैव सर्व संग्रहणं स्मृतम्।।
   स्त्रियं स्पृशेद्देशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा
   परस्परस्यानुमते सर्व संग्रहणं स्मृतम्।। मनुस्मृति, 8/357–358
10. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/283, मिताक्षरा टीका
11. लिखितं साक्षिणों भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं विदुः।
    लिखितं बलवान्नित्यं जीवन्तस्वेव साक्षिणः।
    कालातिहरणादभुक्तिरिति शास्त्रेषु निश्चयः। विष्णुस्मृति, 7/1–5
12. वही 7/1–5
13. नारदस्मृति, 4/137
14. याज्ञवल्क्य, 2/89
15. नारदस्मृति, 4/136, 145
16. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11
17. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11
18. पणिनी, 2/5/81
19. नारदस्मृति, 4/147
20. त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम्।
    पूर्व पूर्व गुरुर्ज्ञेयं भुक्तिंस्तेभ्यो गरीयसी।। नारद, 4/76
21. वही, 4/86–87
22. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/22
23. अग्निनाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
    उखाचिदिन्द्रयोषन्तीप्रयस्ताफैनमस्यति।। ऋग्वेद, 3/53/22
24. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2/95
25. नारदस्मृति 4/252
26. जगदीश कुमार माथुर, सामान्य विधि ज्ञान, पृ0 18
27. मनुस्मृति, 8/129–130
28. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/367
29. वृद्धहारीतस्मृति, 3/187